# --: नवम् परिच्छेद :--

Chapter-9

## -: नवम् परिच्छेद :- Chapter-9

### परमाल रासो [आल्हखण्ड] की उपजीवी काव्य-संपदा :-

परमाल रासो अपनी असीमित ऊर्जस्विता, असाधारण प्रभाव शीलता और अतिशय संप्रेषणीयता के कारण इतना लोकप्रिय हुआ है, कि जन-साधारण से लेकर विद्वान साहित्यकार तक उससे प्रेरणा लेते रहे हैं। विचित्रता तो यह है कि आल्हखंड में न तो कोई विशिष्ट दर्शन है और न कोई परिपक्व वैचारिकता, न भावों की अनोखी संयोजना तथा न ही भाषा-शैली की श्रृंगारिकता, फिर भी उसकी वस्तु और शैली का इतना अनुसरण हुआ है, कि उनकी एक परंपरा ही बन गई है। न जाने कितने लोकगीत, मुक्तक, नाटक, उपन्यास आदि रचे गए। इन सब की खोज करना एक असाधारण कार्य है। सामान्यतः आदिकाल और मध्यकाल के पुराने ग्रंथ और रचनाएँ 13वीं से 15वीं शती तक, बुन्देलखण्ड जनपद में बाहरी आक्रमणों, बिखरे विभाजित राज्यों तथा अक्षम और अपर्याप्त सुरक्षा-साधनों के कारण सुरक्षित न रह सकीं। 16वीं शती से लेकर आज तक की कालावधि में भी यहाँ की काव्य-संपदा पर कितने डाके डाले गए हैं, कि उनकी गणना नहीं की जा सकती। इतनी विषम परिस्थितियों के बावजूद भी जो अवशिष्ट और उपलब्ध काव्य-संपदा है, उसका क्रमबद्ध विवेचन करना परमावश्यक हो जाता है।

प्रस्तुत उपजीवी काव्य की इतनी दीर्घ परंपरा इस तथ्य को उजागर करती है, कि परमाल रासो अपने रचनाकाल [12वीं शती] में ही लोकप्रिय हो गया था और तभी से इस परंपरा का सूत्रपात हुआ होगा। अधिकांश लोकगीतों, गाथाओं और आख्यानों के रूप में इसका विकास हुआ। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रबन्ध काव्यों के साथ-साथ लोक-काव्य की भी रचना हुई होगी, परन्तु अधिकांश साहित्य आज भी अप्राप्य है। उपलब्ध काव्य-संपदा एक नमूने के रूप में संकलित है। इस काव्य-संपदा से परमाल रासो की एक लम्बी शैली-परंपरा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

### कजरियन को राछरौ [13वीं-14वीं शती] :-

सामान्यतः परमाल रासो- छन्द या आल्हा पुरुष गीत माना जाता है, इसे नारियाँ नहीं गाती है, परन्तु बुन्देलखंड में लोकगीत के रूप में प्रचलित एक

"कजरियन का राछरौ" खण्ड काव्य का अनुसरण करता हुआ, आज भी जीता-जागता लोकगीत है जिसे स्त्रियाँ सावन के महिने में बड़े चाव से गाती हैं । इस लोकगीत में महोबा के चंदेल-चौहान-युद्ध की झलक मिलती है ।

परमाल रासो में वर्णित यह युद्ध "महोबे की लड़ाई" या "कजरियों की लड़ाई" के नाम से प्रसिद्ध है । सावन मास की पूर्णिमा को पृथ्वीराज चौहानने महोबा पर आक्रमण करके नाकाबंदी कर दी थी । अतहाय राजा परमर्दिदेव वर्मन कन्नौज से उदल को बुलावा भेजते हैं । उदल एवं लाखन सेना सजाकर महोबा आते हैं और पृथ्वीराज की सेना का मोहरा मारते हैं । इसके बाद प्रथमा के दिन कजरी-विसर्जन होता है । आज भी महोबा क्षेत्र में सावन की कजरियों का विसर्जन भादों महिने की प्रथमा के दिन ही होता है । इस लोकगीत में भी कुछ ऐसे ही भाव वर्णित हैं कि- भाई बहिन से कहता है, कि- बहिन, इस वर्ष कजरी-विसर्जन घर में ही करलो, मैं नादों या तपेलों में दूध भरवा देता हूँ, परन्तु बहिन तो जिद करती है, कि वह सरोवर में ही कजरियां विसर्जित करेगी ।

आज भी बुन्देल-खण्ड क्षेत्र में युवतियां व बहिनें श्रृंगार करके कजरियां विसर्जित करने सरोवरों व नदियों में जाती हैं । भाई केशरियां पगड़ी पहन कर, रजपूती गणवेश में उनकी रक्षार्थ तत्पर रहते हैं । बहिनें व युवतियां राछरौ {गीत} गाती हुई प्रस्थान करती हैं । इस परंपरा के अन्तर्गत चन्देल-पुत्र ब्रह्मानंद व उनकी पुत्री चन्द्रावलि का पारंपरिक अभिनय किया जाता है । यह परंपरा "महोबे की लड़ाई" का एक लोक-चित्र उपस्थित करती है ।{1}

इस लोकगीत का काल-निर्धारण कठिन है । इसमें पुरानी बुंदेली के शब्द- गेवड़े, सिराय, मानिक चौक, वीरा, जूझ, बखरी, धुल्लन, बागी, पाग, गडुवन, डोला, भाँस आदि उसे बहुत प्राचीन सिद्ध करते हैं तथा नकीब {अरबी}, दुश्मन तथा दाग {फारसी} जैसे शब्द मध्ययुगीन / आदिकाल की शब्दावली को देखते हुए, यह गीत 13वीं व 14वीं शती का प्रतीत होता है । इन गीतों के अंश मात्र प्राप्त है, वह भी लोकमुख में । अस्तु, इसकी दूसरी वर्णनाएँ यदि कालान्तर में प्राप्त हो, तो सही काल-निर्धारण करना ज्यादा संभव होगा ।

---

{1} प्रत्यक्ष दर्शन {लोक परंपरा का} एवं गीत श्रवण ।

इस लघु राछरे में लोक संस्कृति के कुछ चित्र भी उभर कर आए हैं, जैसे- कजरी विसर्जन, वीरा (पान के बीड़ा) लगाना, पाग धारण करना, घोड़े की पूंछ व सुम्म रंगना, डोली इत्यादि पर बैठना आदि सब संस्कृति के प्राचीन चिह्न हैं । कजरियाँ बोना, खोंटने से पहले चौक में रखना, झूला में झुलाना, पान के बीड़े लगाकर रखना एवं भाई द्वारा ग्रहण करना आदि बहिन की रक्षा करने के संकल्प का प्रतीक हैं । इसके अतिरिक्त कजरियाँ उठाने से पूर्व भाई का मीठा मुंह कराना, डोला में कजरियों का ले जाना, सरोवर के किनारे पर खोंटना, उन्हें वितरित करना आदि सारी क्रियाएँ लोक संस्कृति के प्राचीन रूप को प्रस्तुत करती हैं ।

अधिक विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है । "राछरें" से प्राप्त वर्णना या उसके कुछ छंद प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो आल्हखण्ड की प्रामाणिकता में सहायक सिद्ध होते हैं । यथा :-

सावन महीना नीको लगै, अरे, गेवड़े(1) रहे हरयाय ।
सावन में कजरियाँ बै(2) दई, भादों में दै हैं सिराय ।
ऐसो है कोउ भैया धरमी, बहिना खों लओ है बुलाय ।
आसों के सावन घर में करो, आगे के दै हों कराय ।
सोने की नादे(3) दूधन भरीं, सो कजरियाँ लेव सिराय ।
कै जै हैं तला(4) के पार भैया, कै जैहैं कजरियाँ सूख ।

***

छप्पन भोजन करो मोरे भैया, कजरियाँ देव सिरा ।(5)
सोने के थारन(6) भोजन परोसो, रूपे के गडुवन(7) नीर ।
एक कौर(8) भइया दै लओ, दूजो दओ सरकाय ।
कै थारन माछी(9) गिरी, कै टूटो सिर कौ बार ।
नै तो भइया माछी गिरी, नै टूटो सिर को बार ।
कुँवर कलेऊ(10) वे करैं, जे क्वारी ब्याहन जाँय ।
हम कलेऊ का करैं, जो इन जूझन खो जाए ।

---

(1) बस्ती से सटा हुआ चारों ओर का भूभाग, (2) बुबाई, (3) तपेले या बड़े भगोने (4) तालाब, (5) विसर्जन, (6) थाल या थाली, (7) लोटा, (8) ग्रास(भोजन का) (9) मक्खी, (10) नाश्ता.

संदर्भ : क्षेत्रीय लोकगीत का श्रवण तथा बृद्धाओं से विचार-विमर्श ।

महोबा रासो या रायसो §1526 ई0 के लगभग§ :-

बुन्देलखंड में, लोकमुख में जीवंत "महोबा रासो" या रायसो प्रसिद्ध लोक-काव्य है, इसमें दो प्रमुख राष्ट्रीय युद्धों का वर्णन है- एक चन्देल और चौहान युद्ध और दूसरा आल्हा का यवनों से युद्ध । दोनों की पुष्टि इतिहास से होती है । पात्र कल्पित है, परन्तु आधार ऐतिहासिक है । इस लोक काव्य में आल्हा-ऊदल की वीरता प्रतिपादित है । इसके रचनाकाल का निर्धारण, साक्ष्यों के अभाव में कठिन है, परन्तु प्रसंगों के आधार पर, यह निश्चित किया जा सकता है कि "आल्हखण्ड" की रचना के बाद ही इसकी रचना का समय रहा होगा । बुन्देलखंड में इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं और इसी को अधिकांश लोग जगनिक का असली आल्ह-खंड मानते हैं । बाबू श्यामसुन्दर दास ने "परमाल रासो" की संज्ञा दी है, परन्तु वास्तविकता यह है कि यह आल्हखंड §परमाल रासो§ का एक उपजीवी काव्य है । इसके अतिरिक्त करहिया को रायसो, बाघाइत को रायसो, झाँसी को रायसो, ओरछा-नरेश को रायसो आदि परमाल रासो की शैली व भाषा तथा कथा के आधार का परिपाक करते हैं ।

प्रस्तुत रायसो में प्रमुख रस वीर है, गौण रूप में श्रृंगार, करुण, शांत आदि रसों की अभिव्यक्ति हुई है । शिल्प विधान पारंपरिक है । संवादों में नाटकीयता और ओजस्विता का कौशल विद्यमान है । भाषा में डिंगल का रंग भरने की प्रवृत्ति है, पर मूल रूप बुंदेली है । बुन्देलखंड की रासो परंपरा और विशेष रूप से छन्द वैविध्य,रासो काव्य-धारा के विकास में महोबा-रासो का योगदान महत्वपूर्ण है, क्योंकि परवर्ती रासो ग्रंथों पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है । आवश्यकता है, उसके पुनः पाठन एवं संपादन तथा मूल्यांकन करने की । "महोबा रायसो" के कुछ अंश इस प्रकार हैं :-

§जगनिक कनवज पुर §कन्नौज§ गमन खंड§

दोहा : अन्तहपुर मल्हन सहित, बैठि नृपति चितलाय ।
जगनक वर कविराज कहँ, लिन्निबअन्त बुलाय ।।
अंसुबरसि अति रुदन करि, गए मल्हन दै पाय ।
जगनिक मन्तनि कील करि, लैहैं सैल रिझाय ।।§1§

---

§1§ आल्हखण्ड : शोध एवं समीक्षा, डॉ0 नर्मदाप्रसाद गुप्त, पृ.सं. 146.

चौपाई : लै दुजराज चले बांधि जाग्गिया । सीख दई परमाल सुमानिया ।।
हिरन आगरे(1) पर चढ़ि लिन्नब । जगनक भाट बिदा करि दिन्नब ।।
बुल्लत प्रगट भूप ये बैनह । मो मानस बिन आल्ह न पैनह ।।
पंच अहन मह कनवज जावहु । जसरथ-नन्दन बेगि बुलावहु ।।(1)

सोरठा : मल्हन कहिब सन्देस, बेगि बहुरि जग आइयब ।
नाबर लुट्टन देस, भूमहीन चन्देल सब ।।(2)

पद्धरी : उच्च रहि बैन जगन्निक राय । पड़िहार पंच दिज्जै पठाय ।।
चुगली कुबंत(2) गुति लिन्न डारि । ग्रीषम सुधर्म दिन्नव निकारी ।।
अब कहत ताहि त्यालो मनाय । कटु बचन बान लग्गे अघाय ।।
हय बाल पंच दिज्जै मँगाय । नातर महोब तजि नगर जाय ।।(3)

पायाकुल : अल्हन(3) कौं दिय अस्थ सु मुत्तियमाल है ।
दइय कलँग्गिय सीस जराइन जाल है ।।
दीन जरी बहुमोल सु अंसुक चार है ।
माछुल(4) कौं दिय मल्हन(5) मुत्तिय हार है ।।(4)

इस प्रकार "महोबा रायसो" में नाना प्रकार के छन्दों के माध्यम से कथा-प्रसंगों को विस्तार दिया गया है ।

## आल्हा राइछौ (17वीं शती) :-

आल्ह राइछौ का रचयिता और रचनाकाल अज्ञात है । कुछ विद्वानों ने इसे जगनिक कृत मान लिया है, पर भाषा-रूप से वह 17वीं शती की कृति प्रतीत होती है ।

इस लघु लोक प्रबंध में 438 छन्दों में आल्हा के जीवन का एक खण्ड-चित्र अंकित किया गया है । कवि ने आल्हा-ऊदल के महोबा से निष्कासन को आधिकारिक कथा के रूप में ग्रहण किया है, और कारण स्वरूप माहिल की चुगली, परिणाम स्वरूप पृथ्वीराज द्वारा महोबा पर चढ़ाई, जगनिक का परमाल की पटरानी मल्हना का पत्र लेकर कनवज जाना तथा आल्हा-ऊदल को लेकर महोबा आना आदि प्रासंगिक कथाएँ

---

(1), (2), (3), (4). वही, पृ.सं. 147, 148.

(1) हरनागर (अश्व), (2) कुबात, (3) आल्हा, (4) मछला रानी (आल्हा-पत्नी), (5) मल्हना (परमर्दिदेव की पटरानी).

हैं । ऐसा माना जाता है कि जगनिक कृत "आल्हा मनौआ" प्रसंग इस लोक प्रबंध का आधार हो । इस लघु कलेवर लोक काव्य में आल्हखंड जैसा प्रवाह, ओजमयता तथा उदात्तता नहीं आ पाई है । "आल्हा राइछों" की प्रमुख विशेषता यह है, कि इसमें लोक वातावरण के चित्रों की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है । यह बुन्देली बोली में लिखित, रासो गीतपरक काव्यधारा का अग्रणी ग्रंथ है ।

जगत राज-दिग्विजय §1722-23 ई0§ :-

कवि हरिकेश कृत "जगतराज दिग्विजय" वीररस प्रधान चरित काव्य है, जो अभी तक लगभग उपेक्षित-सा रहा है । श्री हरिकेश जी सेंधहा, जिला- दतिया §म. प्र. § के निवासी एक ब्राह्मण परिवार के सदस्य थे तथा पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल तथा जैतपुर-नरेश जगतराज के आश्रित थे । इन्होंने महाराज छत्रसाल के युद्धों के वर्णन के साथ-साथ एक बृहत प्रबंध काव्य "जगतराज दिग्विजय" की रचना की, जिसमें जगतराज और दलेल खाँ के बीच ऐतिहासिक युद्ध की कथा तथा अन्य छोटे-छोटे युद्धों की कथा वर्णित है । महाराज छत्रसाल के दरबार में रहकर इन्होंने "लड़ाई काव्य" नामक लघु-काव्य का भी प्रणयन किया । इन दोनों ग्रंथों §लड़ाई काव्य, जगतराज दिग्विजय§ की साक्ष्य से कवि का रचनाकाल 18वीं शती का पूर्वार्द्ध ठहरता है ।

"जगतराज-दिग्विजय" में चन्देलों और बनाफरों के विवरण के साथ-साथ आल्हा-ऊदल सम्बन्धी कुछ छन्द भी मिलते हैं । यथा :-

§1§ चिंतामणि सलीपाल कृपा चन्द्र सभाचंद्र,
मकरंद महाबली अक्रूर अक्षराज ।
मणिकंठ सनकंठ तारायन्द्र दीपचन्द्र,
सोडर अक्रूर भयो वत्सराज दसराज ।
दसराज जू के गे सुपुत्र युग महाबली,
आल्हा औ ऊदल चन्देल के सुलस काज ।
आल्हा के इंदल भौ ऊदल कैं भी नरेन्द्र,
पुत्र भये नामी यों सनामीं औ चंदेलराज ।§1§

§2§ ऊदल ऊदल मारि प्रचारि करी बहु रार महारन ऊदल ।

---

§1§ जगतराज दिग्विजय : श्री हरिकेश, पृ.सं. 25, छन्द सं. 55.

तूर महा लखि सूर कहै करनी भरपूर सु भुरहि भूतल ।
आल्ह करी परमाल लखी करवालहिं ब्रह्महि जीत हितू तल ।
बीर बली समरत्थ कहैं हरिकेश दुहू दल उदल उदल ।।1।।

इस प्रकार कवि हरिकेश ने भी आल्हा-ऊदल की कीर्ति-पताका को फहराने में अपनी लेखनी का कौशल प्रस्तुत किया ।

वीर-विलास [1741 ई0] :-

कवि ज्ञानी जू द्वारा रचित वीर-विलास वीररस की प्रौढ़ कृति है, परन्तु इसे अभी तक किसी साहित्येतिहास में स्थान नहीं मिल सका है । डॉ॰ रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की विवरणात्मक सूची में इसका विवरण मिलता है, जिसमें रचयिता अज्ञात बताया गया है, जबकि कवि की उसी कृति में रचयिता के नाम और निवास का उल्लेख है । ज्ञानी जू ने लिखा है, कि- वे जलालपुर [जिला हमीरपुर] के खेरे खड़खत खूब के निवासी हैं, जिसके उत्तर में कलिगंगा बेतवा बहती है । इससे स्पष्ट है कि यह ग्राम खेड़ी होगा, जो जलालपुर से सटा हुआ है । कवि ने एक दोहे में ग्रंथ की रचना तिथि सावन बदी दौज सं॰ 1798 बताई है ।[2]

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने वीर-विलास को संभवतः नाम के कारण वीर चरित काव्य माना है, परन्तु इसमें दो प्रसिद्ध युद्धों का वर्णन है । कवि ने- "भयो दरेरो कौन विध नदी बेतवै तीर" लिखकर यह स्पष्टता प्रतिपादित की है, कि यह घटना परक वीर प्रबन्ध काव्य है । यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है । पहले भाग में आल्हा-मनौआ और बेतवा युद्ध का वर्णन और दूसरे में बेला का गौना और सती होने की कथा है । कथावस्तु का आधार आल्हखण्ड है, परन्तु वह शास्त्रीय प्रबंध के साँचे में ढलकर परिनिष्ठित हो गई है । कवि की कुशलता इस बात में है कि प्रबन्धात्मक रूढ़ियों में फँसकर भी उसका लोकरूप क्षत-विक्षत नहीं हुआ है । लोक स्वाभाविक सहज प्रकृति के कारण उसके संवाद एवं चरित्रांकन सजीव बन पड़े हैं । नारी पात्रों में कोमलता, मधुरता और भावुकता के साथ ओजपूर्ण दृढ़ता का अनोखा सामंजस्य है ।

---

[1] जगतराज-दिग्विजय : श्री हरिकेश, पृ॰सं॰ 28, छन्द सं॰ 58.
[2] आल्हखण्ड की उपजीवी काव्य-संपदा : संपादन एवं टिप्पणी - डॉ॰ नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ॰सं॰ 152.

कवि को भावुक स्थलों की अच्छी पहचान है । कहीं वह संचारियों से पुष्ट स्थायी भाव की शास्त्रीय अभिव्यंजना करता है, तो कहीं लघु प्रसंगों में सहज लोकभावों की अभिव्यक्ति । इस प्रकार वह एक ओर परिनिष्ठित शब्दों का धनी है, तो दूसरी ओर लोक शब्दों का । संक्षिप्त में, प्रबंध परंपरा की श्रृंखला में वीर-विलास, छत्रसाल प्रकाश, दिग्विजय की श्रेणी में एक महत्वपूर्ण रचना है । इसके कुछ छन्द इस प्रकार हैं :-

कीरत सागर ताल, मल्हना पहुँचावन गई ।
अँसुवन भये दृग लाल, आल्है लावहु हालही ।।
कहत मल्हन दै रानि, कीरत सागर आय तर ।
देस लेत चौहान, जानिक हर बर आइयौ ।।

***

कच्छी के असवार तुहि न लागै अच्छी ।
मोह देय तलवार ढाल औ सांग बरच्छी ।
मुख पर घूँघट घाल पाँव में बिछिया धारी ।
पाँव महावर देव नाचने बेग प्रचारी ।
सब लोहौ धर देव अंग सोने मढ़ौ ।
युद्ध करन मैं जाँव घोड़ा चढ़ डोला चढ़ौ ।§1§

प्रथीराज दरेरौ §18वीं शती§ :-

श्री इलाशंकर गुहा, आकाशवाणी, छतरपुर §म.प्र.§ द्वारा प्राप्त हस्त-लिखित प्रति के आधार पर प्राप्त जानकारी के अनुसार, इस प्रबन्ध रचना में मलखान मोहिनी के विवाह की कथा वर्णित है । नामकरण के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है, कि- प्रस्तावित कृति में पृथ्वीराज चौहान और परमर्दिदेव चन्देल के बीच प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन होगा । संपूर्ण ग्रंथ अनुमानतः एक हजार पृष्ठों में विभक्त है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर मलखान विवाह अंकित है । अस्तु, यह स्पष्ट है, कि प्रस्तुत कृति की कथावस्तु का मुख्य प्रसंग मलखान और मोहिनी विवाह है । ग्रंथ के नाम-करण का प्रश्न विचारणीय अवश्य है, कि- "प्रथीराज दरेरौ" ग्रंथ का नाम लेखक ने क्यों दिया ? जबकि कथा मलखान-मोहिनी विवाह से सम्बन्ध रखती है । इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि हो सकता है कि लेखक का उद्देश्य विराटाकार महाकाव्य लिखने

§1§ वही : पृ.सं. 153.

का रहा हो, जिसमें वह मलखान-मोहिनी विवाह प्रसंग को एक अध्याय के रूप में प्रस्तुत करना चाहता हो तथा किसी परिस्थिति के कारण रचना अपूर्ण रह गई हो । बहरहाल यह स्वयं एक शोध का प्रश्न है । इसकी पूरी खोज के बाद ही कोई निर्णय लिया जा सकता है ।

प्राप्त प्रति में पूर्व के 100 पृष्ठ नहीं है और अन्त में 780 पृष्ठ तक वह अपूर्ण है । बीच में 797-798 पृष्ठ का एक टुकड़ा भी है । इस आधार पर 800 पृष्ठों का अनुमान लगाया जा सकता है । ग्रंथ के अध्यायों की अन्त की पुष्पिकाओं में रचयिता का नाम, ग्रंथ का नाम और कथा का विषय दिया गया है । उदाहरण के लिए 9वें अध्याय की पुष्पिका इस प्रकार है— "इति श्री कवि चंद विरंचतायाम् पृथीराज रासे री मलखान-मोहिनी विवाहे चतुरथे जुध्दे रांना पमार बध दो दिन संग्रामे जगनायक विजय चंदकवि चहुवान सँवादे वर्ननोनाम नवमो अध्यायहु ।।9।।"

पुष्पिकाओं एवं ग्रंथ के अनेक छन्दों में रचयिता का नाम "चंद" ही दिया गया है, कहीं-कहीं "चन्द्र" और "चंदवरदाय" भी आया है, लेकिन कृति की भाषा मध्ययुग की बुंदेली है, इस दृष्टि से उसका रचयिता कोई बुंदेली कवि होना चाहिए । "महोबा रासो" की हस्तलिखित प्रतियों में भी "चंद" कवि नाम दृष्टिगोचर होता है । यहाँ तक कि उसे जनपद के लोग "चंद रायसो" के नाम से पुकारते हैं, कुछ लोग उसे ही असली आल्हखंड समझते हैं । वास्तविकता यह है कि पहले कृतिकार अपने नाम को गुप्त ही रखना चाहते थे, इसलिए वे उसके स्थान पर या तो आश्रयदाता या किसी प्रसिद्ध कवि का नाम अंकित कर दिया करते थे । उदाहरण के लिए पं. मोहनदास मिश्र कृत "कृष्ण चंद्रिका" में उनके आश्रयदाता चंदेरी-नरेश "रामचन्द्र" का नाम आया है । यह कहा नहीं जा सकता कि कितने कवियों ने अपने आश्रयदाता-नरेशों का नाम ही उजागर किया हो । इसी प्रकार "तुलसी" और "सूर" का छाप डालकर अनेक पद या भजन रचे गए हैं, "ईसुरी" के नाम से छ्पारें फागें [होरी के गीत] प्रचलित हैं । इस प्रकार कृति के रचयिता का नाम अज्ञात ही रह गया है । संभव है, कि पूर्ण कृति प्राप्त होने पर वास्तविक लेखक का पता चल सके । इसी प्रकार कृति के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित काल सीमा का प्रस्तुतीकरण असंभव है । शब्दों की द्वित्त से भाषा में पुरानापन लगता है । रासो-ग्रंथों में इस तरह की प्रवृत्ति 18वीं शती तक अधिक प्रचलित रही । कँगला और दीमान शब्द भी बाद के

लगते हैं । पचासवें अध्याय में वाद्य-यंत्रों के नाम भी आए हैं । यथा :-

आवत तबल तारिंय मंजीर । मुह चंग ढोल मुहवर जमीर ।।
सहनाय संघ धुन सुर समार । मिरदंग तुंग आदिक अपार।। ‡।‡

इन वाद्यों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रंथ का रचनाकाल 17वीं-18वीं शती रहा होगा ।

बुंदेली बोली में "दरेरौ" का अर्थ धावा या आक्रमण होता है और युद्ध के लिए भी उसका प्रयोग हुआ है । इस प्रबंध में पृथ्वीराज चौहान के चंदेल-नरेश परमर्दिदेव पर आक्रमण या युद्ध का वर्णन नहीं है, परन्तु मलखान और मोहिनी के विवाह में 32वें अध्याय तक ही 20 युद्धों का चित्रण किया गया है । युद्ध-वर्णन की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो उसे अन्य ग्रंथों से अलग कर देती हैं । जैसे- राजा परमाल का युद्ध में जाना, माहिल का बिना चुगली किए या बाधा डाले आल्हा-ऊदल के साथ रहना और वर्णनों में पुनरावृत्ति का न होना । अतिशयता की पुरानी प्रवृत्ति, सेना के मृतकों आदि की संख्या में हर जगह है, किन्तु सभी वर्णन ओजपूर्ण हैं । 23वें अध्याय में आल्हा द्वारा बीड़ा न लेने से और मलखान के वर वेष में नेतृत्व से ऐसा प्रतीत होता है, कि कवि मलखान को ही नायकत्व प्रदान करना चाहता था । ग्रंथ में वर्णित कला-कौशल भी इस कृति को 17-18वीं शती सिद्ध करता है ।

छन्द योजना के संदर्भ में, "प्रथीराज दरेरौ" में दोहा, चौपाई, तोटक आदि छन्दों का सामंजस्य है । यथा :-

दोहा : भा चिंता रन मै जुरौ, होत सैन कौ नास ।
जासैं आल विचार मन, गया जुध्ध परमास ।।

चौपाई : सुनत आल तब यह फिर कहिऊ । धीर पुरस तुम जानत सबऊ ।।
सिवा संभु आराधन करकैं । लीं नै वर इच्छित युद्ध भरकैं ।।
हौ तुम धरम धीर गुन गाहक । अधरम पंथ कलंन के दाहक ।।
जठे पुत्र अधपत अप होई । कउत बेद जानत सब कोई ।।

---

‡।‡ तबल, ताल, मुहचंग, ढोल, शंख, मृदंग, मझूअर आदि प्राचीन वाद्य थे । शहनाई मध्ययुग में प्रचलित हुआ । मुहचंग त्रिशूल जैसे आकार का धातु निर्मित होता है, जो फूँककर बजाया जाता है ।

तोटक : तुम सत्त बनाफर बत्त कही । यह मै कछु और न भेद सही ।।
जब भूप विवाह रचौ भगनी । दरबार समूहि लगौ रचनी ।।§1§

आल्हा :-

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म-स्थाल, चिरगांव §जिला-झांसी§ उ.प्र. के समीप "करगवाँ" नामक एक गांव है । यहाँ एक सुप्रसिद्ध आल्हा-गायक शिवदयाल कमरिया अवतरित हुए थे । यह एक सुप्रसिद्ध आल्हा-लेखक भी थे । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने एक संस्मरण में कमरिया द्वारा रचित "आल्हा" का उल्लेख किया है, जिससे उनकी लोकप्रियता सिद्ध होती है । इस आल्हा-रचयिता के पिता का नाम पारीछत कमरिया तथा माता का नाम अमानबाई था । यह विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, केवल अभ्यास के द्वारा इन्होंने संगीत और काव्य-शास्त्र की विद्या प्राप्त की । यह पहले "पजन" उपनाम से लोकगीत और फागें लिखा करते थे, बाद में रामचरित मानस से प्रेरणा लेकर आल्हा की रचना की । उस क्षेत्र के लोग उन्हें सम्मान से शिबू दा कहते थे । कहा जाता है कि एक बार जब उनके पुत्र हत्या के अपराध में बन्दी बना लिए गए, तब कवि ने स्वयं टीकमगढ़ जाकर महाराज महेन्द्रप्रताप सिंह को अपनी आल्हा-रचना सुनाई थी और बंदी पुत्रों को मुक्त करा लिया था । इस घटना से यह सिद्ध होता है कि कवि टीकमगढ़-नरेश महेन्द्रप्रताप सिंह §1874-1906 ई0§ के समय विद्यमान था और आल्हा की रचना कर चुका था । साथ ही राजा उनकी रचना से अत्यधिक प्रभावित हुए और तभी से उसका प्रचार-प्रसार हुआ होगा ।§2§

शिबू दा "कमरिया" की आल्हा, जगनिक कृत आल्हाखंड या परमाल रासो की कथा पर आधारित है । कवि ने उसे विविध वर्णनों के द्वारा सरस बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु आल्हखंड जैसी प्रभावोत्पादकता और प्रभाव-क्षमता नहीं है । इतना अवश्य है, कि बुंदेली की उक्तियों के सौन्दर्य, बिंबों की सटीक योजना तथा संगीत के माधुर्य ने इसे जनप्रिय बना दिया है । बुंदेली भाषा में यदि प्रसादता, कोमलता, सरसता और ओजस्विता का एक साथ दर्शन करना हो, तो वह शिबू दा की आल्हा में मिलेगी । छन्दों की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :-

तरफ हेर कें माहिल के, मलना बोली बचन उचार ।

---

§1§ पृथीराज दरेरौ, अनुशीलन डॉ.वीरेन्द्र "निर्झर", पृ.सं. 81, 82.
§2§ ग्रामीण जन-संपर्क एवं वार्तालाप ।

धरी मुजरियां महलन बिलखें, ताको करिये कौन बिचार ।।
आल उदलसी धर नक्षां उर, गढ़ कनवज गए रिसाय ।
अनरस[1] हो गई चन्देले में, मलखे, गओ कनारो[2] खाय ।[1]

प्थीराज रायसौ तिलक [1919 ई0] :-

जिगनी [उ.प्र.] निवासी दिवारराम ब्रह्मभट्ट ने सं. 1976 वि. में इस लोक प्रबन्ध काव्य की रचना की । इसके नामकरण के विषय में विवाद का प्रश्न बना हुआ है । जैसा कि नाम से विदित होता है, कि इसमें महाराज पृथ्वीराज के राज-तिलक या उनकी युद्ध-घटनाओं का वर्णन होना चाहिए, परन्तु ऐसा इस ग्रंथ में वर्णन नहीं मिलता । इस ग्रंथ की योजना का आधार आल्हखण्ड ही है । प्रस्तुत ग्रंथ में उल्लिखित प्रसंग- "चन्द्रमुखी कौ समय" में [पृ. 24] कवि ने आल्हा-ऊदल के वंशवृक्ष का उल्लेख किया है ।

कथा की मौलिकता भी आल्हखण्ड की समकक्षता में नगण्य है । बुन्देली लोक-प्रचलित शब्दावली के साथ-साथ तत्सम शब्दों की बहुलता है । अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है, कि कवि ने आल्हा की लोकप्रियता को दृष्टिगत रखते हुए उसकी अनुकृति करने का प्रयास किया है । कारण कुछ भी हो, यह परमाल रासो [आल्हखंड] की उपजीवी काव्य-संपदा है जो क्षेत्रीय काव्य की दृष्टि से लोकप्रिय है ।

झलकारी का जीवन-वृत :-

आल्हा छन्द में वर्णित झलकारी के जीवन की कथा एक नवीन रचना है, जो अभी प्रकाशित है । इसके रचयिता श्री दीनदयालु वर्मा, प्रवक्ता, सनातन धर्म इण्टर कालेज, उरई [जालौन] उ.प्र. हैं । आपका निधन 5 जून, 1993 को हुआ था । आप उक्त इण्टरमीडिएट कालेज में "कला" के व्याख्याता थे । आपका बाहरी व्यक्तित्व भी काव्य-कला से जुड़ा हुआ था । श्री दीनदयालु वर्मा, बुन्देलखण्ड के एक सुप्रसिद्ध आल्हा-गायक भी थे । आपका नाम दूरदर्शन एवं आकाशवाणी लखनऊ [उ.प्र.] व छतरपुर [म.प्र.] आदि से जुड़ा हुआ है ।

कहा जाता है, कि झलकारी एक हरिजन वर्ग की महिला थी, जो झांसी

---

[1] रुखाई, बिगाड, [2] दूर या अलग होना ।
[1] वही : पृ.सं. 82.

की रानी लक्ष्मीबाई की अन्तरंग थी । सन् 1857 के स्वतन्त्रता के प्रथम संग्राम में उसने अपनी वीरता का अद्भुत परिचय दिया था और वीरगति को प्राप्त हो गई थी । आकर्षक व्यक्तित्व एवं रूपवती युवती होने के कारण अंग्रेजी सेना के अधिकारियों को भी भ्रांति का शिकार होना पड़ा था । उक्त संग्राम में झलकारी रानी से पहले वीरगति को प्राप्त हो गई थी, जिसे देखकर अंग्रेजों ने सोचा था, कि रानी लक्ष्मीबाई वीरगति को प्राप्त हो गई है ।

प्रस्तुत लोक-प्रबन्ध को कवि ने आल्हा का आधार प्रदान कर, वीरांगना के जीवन की संपूर्ण झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । भाषा में बुन्देली बोली के शब्दों के साथ-साथ तत्सम शब्दों को भी अपनाया गया है । प्रस्तुत रचना की हस्तलिखित प्रति उरई, जिला- जालौन (उ.प्र.) में सुरक्षित है । ऐसी रचनाओं को प्रकाशित होने का सौभाग्य मिलना चाहिए । आल्हखण्ड की उपजीवी काव्य-संपदा की श्रृंखला में निश्चय ही प्रस्तुत रचना को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि आल्हखण्ड की अनुकृति में यह एक नवीनतम् प्रयास है । संदिग्ध घटनाओं को उजागर करने का यह एक स्तुत्य प्रयास भी कहा जा सकता है ।(1)

<u>निष्कर्ष</u> :-

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में, अब तक संदिग्धता-आवृत परमाल रासो (आल्हखण्ड) के तमाम साहित्यिक पहलुओं एवं घटनाओं को न केवल प्रकाश में लाया गया है, अपितु उनकी विवेचना एवं समीक्षा करने का यथोचित प्रयास किया गया है ।

यह वसुंधरा, सृष्टि के प्रथम सोपान से आज तक अपनी कोख से अनगिनत वीरों, महापुरुषों को जन्म दे चुकी है एवं पुनः अपने अन्तःहृदय में समेट चुकी है । इन वीरों एवं महापुरुषों की जीवन-लीला यह वसुधा ही जानती है या जानती है उस क्षेत्र की पावन मिट्टी, जहाँ इन आत्माओं ने बचपन में किलकारियाँ, युवावस्था में रंगरलियाँ की और अन्त में उसी पावन मिट्टी को शैय्या बनाकर चिरनिद्रा में सो गए । कहने का तात्पर्य है, कि जब तक ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग एवं शोध होते रहेंगे तब तक नए-नए तथ्य और घटनाएँ प्रकाश में आती रहेंगी ।

परमाल रासो या आल्हखण्ड, लोक प्रबन्ध काव्य का एक मौलिक रूप है, जो

---

(1) क्षेत्रीय भ्रमण एवं जन-संपर्क से प्राप्त जानकारी ।

आज भी बुन्देली, सागरी, भोजपुरी, कन्नौजी एवं अवधी बोलियों एवं भाषाओं में उत्तर भारत के सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय है । इसी के आधार पर अन्य लोक साहित्य का विकास हुआ । भाषा शैली, कथानक एवं साहित्यिक दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में परमाल रासो के प्रत्येक पक्ष को उजागर कर, उसकी समीक्षा की गई है । विभिन्न ग्रंथों का पारायण एवं क्षेत्रीय जन-संपर्क एवं भ्रमण से प्राप्त जानकारी के आधार पर यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है, कि परमाल रासो वीरगाथा कालीन साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

साहित्यकारों ने इसे लोककाव्य कहकर अपनी उदासीनता का परिचय दिया है । वास्तविकता यह है, कि इतिहासकार एवं साहित्यकार प्राचीनतम् घटनाओं एवं संदिग्ध कृतियों की विवेचना के प्रति उपेक्षा का भाव अपनाते हैं । निष्कर्ष यह है, कि प्रस्तुत वीर काव्य आज भी हमारे कानों में शंख के समान भीषण ध्वनि करने में समर्थ है एवं सोई हुई मानवीय अस्मिता को जगाने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है । इसकी लोकप्रियता के साक्ष्य उत्तर भारत के जनसाधारण की जिह्वा पर विराजमान छन्द है । इन छन्दों को लगभग 800 वर्ष के दीर्घ अन्तराल में पीढ़ी-दर पीढ़ी लोगों ने अपने मुख में जीवित रखा और आज भी जब आकाश काली-काली घटाओं से आच्छादित होता है तब बजता है ढोल और मंजीरा और होता है- आल्हा का गायन । ऐसा लगता है कि आल्हखण्ड की समस्त घटनाएँ दो-चार वर्ष पुरानी हैं । वीरों का युद्ध-तांडव सोई हुई चेतना जगाकर अटूट साहस और वीरता का समावेश करने लगता है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि "परमाल रासो" एक लोकप्रिय मौलिक रचना है । इसकी सभी घटनाएँ या घटनाक्रम ऐतिहासिक हैं एवं मानवीय प्रेरणा के स्रोत हैं । प्रस्तुत, वीररस का प्रबन्धकाव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है ।

लेखक (शोधार्थी) का मंतव्य :-

बुन्देली समाज और संस्कृति को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाली अमूल्य रचनाओं में जनकाव्य आल्हखण्ड (आल्हा) का विशेष महत्व है । बारहवीं शताब्दी के बुन्देलखंड की सामाजिक,सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपराओं का परिचय जिस समग्रता के साथ आल्हा या आल्हखण्ड में मिलता है, वह तत्कालीन अन्य कृतियों में दुर्लभ है । संप्रेषण की दृष्टि से यह काव्य इतना महत्वपूर्ण है कि जनसमाज (उत्तर भारत) का हर व्यक्ति

उसे पढ़ना चाहता है । अनेक आल्हा-गायकों ने इसकी लोकप्रियता को दृष्टिगत रखते हुए अनेक आल्हा-छन्दों की रचनाएँ की हैं । इन रचनाओं का आधार परमाल रासो ही है, परन्तु वर्णनाएँ अथवा कथानक भिन्न-भिन्न हैं ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में "परमाल रासो" की प्रामाणिकता संदिग्ध है, क्योंकि परमाल और पृथ्वीराज का ऐसा संघर्ष इतिहास से प्रमाणित नहीं है, जिसमें पृथ्वीराज की पराजय हुई है । ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पृथ्वीराज से परमाल का युद्ध 1182 में अवश्य हुआ था, जिसमें परमाल पराजित हुआ और कालिंजर में जाकर छिप गया । सन् 1203 में कालिंजर पर मुस्लिम आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई । "परमाल रासो" में परमाल की प्रकृति एवं स्वरूप दूसरा ही वर्णित है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आल्हखंड की कथा लोकजीवन से गृहीत है ।

लोकजीवन से गृहीत कथा का विकास सन् 1600 से 1800 तक हुआ, जब देश को वीर नायकों के उत्सर्ग, शौर्य और सामाजिक व्यवस्थापन की अधिक आवश्यकता पड़ी । इसके पूर्व आल्हखंड का साहित्यिक रूप विद्यमान रहा है, जो अल्हैतो के माध्यम से वाणी की अभिव्यक्ति प्राप्त करता रहा । विकास की एक अन्य अवस्था चार्ल्स इलियट [इतिहासकार] द्वारा 1865 में संग्रह और संपादन करते समय प्रकाश में आई । तेईस युद्धों वाले आल्हखंड का रूप बावन युद्धों तक प्रसारित हो गया । अतः प्रमुख 23 युद्धों के बाद ही कथा को प्रक्षिप्त माना जाए । आल्हा के प्रमुख चरित्र, परमाल की पुष्टि तो प्रबन्ध-चिन्तामणि और पुरातन प्रबन्ध संग्रह के द्वारा होती है, परन्तु मदनपुर के शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है कि चौहानों के प्रमुख पृथ्वीराज ने परमर्दिदेव पर विजय प्राप्त की थी, इस विजय का प्रमुख कारण परमाल का विलासी और कायर होना बताया जाता है । परमाल और उनके राज्य की सुरक्षा करने वाले दो वीर थे, जिन्हें इलियट और डाउसन ने भी अपने इतिहास में बिना नाम से प्रस्तुत किया है ।

आचार्य लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी की [लोकगाथा काव्य आल्हा में] धारणा यह है कि आल्हखंड ऐतिहासिक महत्व का काव्य है, इसमें केवल घटनाओं के उपक्रम और उपसंहार को काव्योचित कल्पना के रंग में रंग दिया है । इससे स्पष्ट होता है कि आल्हखंड की मूलकथा और कलेवर में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं । अतः मूल आल्हखंड या परमाल रासो को केवल तत्कालीन सामाजिक दशा, सांस्कृतिक

चेतना और धार्मिक वातावरण के आधार पर ही अन्तःसाक्ष्य से समझा जा सकता है ।

परमाल रासो- प्रणयन-काल की सामाजिक,राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति से यह प्रतीत होता है कि इस काल में वैदिक और पौराणिक धर्म का बोलबाला था । आल्हा में जहाँ कहीं सुमरनी और मंगला-चरण आया है, वहाँ पर शिव, शारदादेवी की वंदना प्रमुख है, परन्तु साथ ही कथा के कुछ अंशों में गोरखनाथ जैसे नाथों, सिद्धों आदि की चलाई उपासना पद्धति का भी आभास मिलता है । वास्तव में इस समय भारत में शैव धर्म का प्रभाव था । महोबा के पास कालिंजर में शिव-मन्दिर इसका प्रमाण है । परमाल भी अपने अन्तिम समय में कालिंजर में रहा था, ऐसा माना जाता है । तात्पर्य यह है कि इस समय तक धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी । वैष्णव धर्म अभी प्रभाव में नहीं आया था, बाद में वैष्णव धर्म के अनुकूल आल्हा के चरित्रों में पाण्डवों का अवतार आरोपित किया गया है ।

आल्हखंड के समस्त चरित्र चमत्कारी और अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करने वाले हैं । कथा में कौतूहल का भाव तो है ही, साथ ही उपदेश वृत्ति का भी प्राधान्य है । अत्याचारी का डटकर मुकाबला करना चाहिए तथा उसे धराशायी कर देना चाहिए । आल्हा-ऊदल के पूर्वजों को मारा गया था, उनका बदला उन्होंने लिया । ज़ाहिर है कि कोई अन्याय करे, तो उसका दमन करो । आल्हखण्ड में सबसे प्रधान बात यही है, जो संस्कृति, धर्म, सत्य, समाज और देश रक्षा के नाम पर बार-बार कही गई है । मध्ययुग के पूर्व जीवन मूल्यों की इतनी-सी सीमा होना स्वाभाविक बात है ।

एक शांतिप्रिय जीवन, न्याय व्यवस्था और सामंती जीवन को आदर्श रूप में स्थापित करने में आल्हा-ऊदल का त्याग, शौर्य एवं परोपकारी वृत्ति संपूर्ण काव्य में अनेक बार वर्णित की गई है । उनकी यही प्रवृत्ति जनसमाज को अधिक आकर्षित करने वाली सिद्ध हुई । आल्हखण्ड की भाषा अपनी सहजता के कारण लोकप्रिय एवं सहज ग्राह्य हो गई । इसकी लोक-प्रचलित शब्दावली ने इसे और भी सहज संप्रेषणीय बना दिया ।

भाव-उद्बोधन एवं कार्य की दृढ़ता सम्बन्धी प्रसंग भी आज की परिस्थितियों में विशेष उपयोगी एवं कारगर सिद्ध होते हैं । परमाल रासो में "राम रुठै हैं तो बन

संदर्भ : प्रस्तावित शोध प्रबन्ध में उल्लिखित परमाल रासो की समीक्षा एवं विवेचना ।

जैहै, बिगरी बनत-बनत बन जाय" अथवा "पाँव पिछारैं हम ना धर हैं, चाहे तन धजी-धजी उड़ जाय" या "खटिया सोवे जो मरि जैहैं, तो सब क्षत्री धरम नसाय" आदि उक्तियों या लोकोक्तियों के माध्यम से भाव-उदबोधन एवं दृढ़ता की भावना का परिपाक किया गया है ।

परमाल रासो ‡आल्हखण्ड‡ की समीक्षा एवं विवेचना के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि प्रस्तुत लोकगाथा काव्य स्वयं में, अनेक मानवीय एवं जीवन-मूल्यों को समेटे हुए है । उदासीनता के स्थान पर उत्साह, निष्क्रियता के स्थान पर सक्रियता एवं कर्तव्य विमुखता के स्थान पर कर्तव्य परायता की भावना का संचार करता है । इसकी वर्णनाएँ एवं कथानक मानवीय आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं और हमारे पूर्वजों की वीरतापूर्ण अस्मिता को उजागर करते हैं । साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में भी, प्रस्तुत ग्रंथ अपने काव्य-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य एवं भाषा-कौशल की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।

<u>उपसंहार</u> :-

आल्हा, ग्रामीणों की मानसिकता है । उनकी समस्याओं का समाधान, कठिन कार्य के लिए उदबोधन, गम्भीर परिस्थितियों में धैर्य और निष्क्रियों में क्रियाशीलता का उपदेश है । भाषा की दृष्टि से अकसर आल्हा को बैसवाड़ी की अनुकृति माना जाता है, जो सर्वथा गलत है । महोबा, बुंदेलखण्ड का एक भूभाग है जहाँ पर बुन्देली बोली का एक प्रकार बनाफरी ‡बोली‡ का प्रयोग होता है । संपूर्ण आल्हखंड इसी भाषा में रचित है । इसकी लोकप्रियता के परिणाम स्वरूप इसे अनेक बोलियों व भाषाओं ने अपना लिया ।

वर्तमान समय में "आल्हा" ग्रामीणों के लिए अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि वर्तमान जीवन की समस्याओं में धैर्य, उत्साह, क्रियाशीलता आदि की भावनाएँ मन्द पड़ती जा रही हैं, जीवन मूल्य भी बदलते जा रहे हैं । साधारण किसान या मजदूर को ऐसी परिस्थिति में आल्हा का गायन, पठन-पाठन-मनोरंजन के साथ-साथ पूरी जीवन-शक्ति से भर देता है । आल्हा-गायन ग्रामीण क्षेत्रों में अकसर बरसात के दिनों में होता है, क्योंकि इस समय किसान-मजदूर अपने कृषि- कार्यों से अंशकालिक निवृत्त हो जाते हैं । इसीलिए शायद यह कहावत बनाई गई है कि--

भरी दुपहरी सरवन गाइये, सोरठ गाइये आधी रात ।
आल्हा पवाड़ा वा दिन गाइये, जा दिन झड़ी लगे दिन रात ।।

बरसात के दिनों में यदि आल्हा के गायन का शुभारंभ हो गया, तो एक विजय के पूरे वर्णन पर ही समाप्त होता है । इसका कारण, इसी वर्णनाओं के प्रति जिज्ञासा है । फलागम की प्राप्ति आस्वादक के लिए अनिवार्य है । इसे वर्षाऋतु का आख्यान गीत भी माना जाता है । लोगों की ऐसी धारणा है कि आल्हा-गायन में प्रयुक्त वाद्यों की ध्वनि से वर्षा हो सकती है । मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ, परंतु इतनी बात अवश्य है कि ग्रामीणों की अवकाश-बेला {वर्षा} में आल्हा, सुख और आनन्द की बौछार अवश्य करता है । इसे चौपाल पर सभी वर्णों के लोग सुनते ही नहीं, बल्कि आल्हा की थाप पर हाँक भी देते हैं । जिस तन्मयता के साथ आल्हा का गायन और आस्वादन होता है, वह वास्तव में अद्भुत है । इसीलिए आल्हा आज भी प्रासंगिक बना हुआ है ।

अन्त में, यही कहा जा सकता है, कि परमाल रासो या आल्हखंड की लोकप्रियता, प्रभावोत्पादकता, प्रासंगिकता, ऐतिहासिकता एवं साहित्यिकता को नकारा नहीं जा सकता है । यह हिन्दी साहित्य के इतिहास की अस्मिता के लिए एक महत्वपूर्ण आयाम है एवं लोकगाथा काव्य की एक अनुपम प्रबन्ध रचना ।

-=: इति :=-

-=: ओम नमः शिवाय :=-